# पाठ्यक्रम के पुनर्गठन पर केन्द्रित 'सेमिनार'

❑ हेतु भारद्वाज

राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद द्वारा बहस के लिए जारी 'विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या दस्तावेज' पर प्रतिष्ठित अकादमिक पत्रिका 'सेमिनार' (नई दिल्ली) ने पूरा एक अंक (493 सितम्बर, 2000) केन्द्रित किया है । प्रसिद्ध शिक्षाविद् प्रो. कृष्ण कुमार ने इस अंक का आधार वक्तव्य लिखा है जिसमें पद्मा एम. सारंगपाणि, रोहित धनकर, ए. आर. वासवी, गीता वी. नाम्बिसान मोहम्मद तालिब, साधना सक्सेना, अरुणा रत्नम और शोभा सिन्हा के विश्लेषणात्मक आलेख हैं । यह अंक उक्त पाठ्यचर्या दस्तावेज की विसंगतियों और एकांगिता को तो उजागर करता ही है, समकालीन शिक्षा परिदृश्य पर भी कुछ गंभीर सवाल उठाता है । प्रस्तुत है इस अंक पर संक्षिप्त चर्चा ।

राष्ट्रीय शैक्षणिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद ने विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या का दस्तावेज, परिचर्चा के लिए जारी किया है जिस पर व्यापक और गहन विचार विमर्श के लिए शिक्षा से जुड़े व्यक्तियों और संस्थाओं व संगठनों को आमंत्रित किया गया है । इस दस्तावेज ने देश के बुद्धिजीवियों को आकृष्ट किया है तथा इस पर गंभीर बहस आरंभ हो गई है । ''सेमीनार'' जैसी पत्रिका ने तो अपना पूरा अंक (493 सितम्बर, 2000) ही इस दस्तावेज पर विमर्श के लिए समर्पित किया है । पाठ्यचर्या दस्तावेज की प्रस्तावना में स्वीकार किया गया है, ''दस्तावेज'' के इस प्रारूप को तैयार करने में बहुत लम्बा समय इस कारण नहीं लगाया जा सकता था कि यदि इसमें अधिक समय लगाया जाता तो पाठ्यक्रम के चिरअपेक्षित नवीकरण और पाठ्यपुस्तकों के नवसृजन का कार्य और अधिक पिछड़ जाता ।'' साथ ही दस्तावेज का यह प्रारूप प्रस्तुत ''अपरिहार्य परिस्थितियों में तैयार किया गया है'', इन स्वीकृतियों में ही कहीं सरकारी मंशायें भी छिपी हुई हैं। 'सेमिनार' के अंक में प्रकाशित प्रो. कृष्ण कुमार ने अपने आधार वक्तव्य में ही यह सवाल उठाया है कि 'दस्तावेज यह स्पष्ट नहीं करता कि वह अपरिहार्य परिस्थितियां कौनसी थीं जिनमें यह दस्तावेज तैयार किया गया ? हम उक्त स्वीकारोक्ति से दस्तावेज के पीछे छिपी राजनैतिक मंशाओं का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं केन्द्र की सरकार पर किसी भारी दबाव के तहत यह जल्दबाजी की गई ।' इस जल्दबाजी के पीछे छिपे मंतव्यों को ढकने का पूरा प्रयास इस दस्तावेज में किया गया। इसीलिए दस्तावेज का शुभारंभ गांधी जी के कथन के साथ किया गया है । साथ ही ऊपर से देखने में दस्तावेज जिन व्यापक मूल्यों की चर्चा करता है उनसे किसी का मतभेद भी कैसे हो सकता है।

दस्तावेज यह संकेत करता है कि राष्ट्रीय शिक्षा नीति - 1986) में जो प्रमुख मुद्दे और सरोकार उठाए गये थे उनकी तरफ भी इस दस्तावेज में पूरा ध्यान दिया गया है । दस्तावेज रेखांकित करता है कि हमारी शिक्षा ऐसी होनी चाहिये जो एक ''भूमंडलीय विश्व व्यवस्था को बढ़ाने में मददगार हो तो दूसरी ओर इसे राष्ट्रीय अस्मिता के लिए जरूरी राष्ट्रीय चेतना, राष्ट्रीय भावना एवं राष्ट्रीय एकता विकसित करते हुए भी दिखायी देना चाहिये ।'' ऐसा नहीं है कि यह दस्तावेज विद्यार्थियों की बौद्धिक क्षमता, भावनात्मक क्षमता एवं आध्यात्मिक क्षमता के द्वारा प्रभावशाली शिक्षा को भूमण्डलीकरण-उदारीकरण की उपलब्धियों और चुनौतियों के अनुरूप और भूमण्डलीय विश्व व्यवस्था को बढ़ाने में मददगार बनने की बात न करता हो पर इसके निहितार्थ कहीं और ही हैं । जो इस प्रकार की पंक्तियों में ध्वनित होते हैं, ''स्कूलों को लोगों के नैतिक एवं आध्यात्मिक विकास के लिए सार्वभौमिक एवं शाश्वत मूल्यों की पुर्नस्थापना करने एवं उन्हें बनाये रखने का प्रयास अवश्य ही करना चाहिये । --- लोगों को यह समझना चाहिये कि वे कौन हैं और मानव जीवन का चरम लक्ष्य क्या है ? उचित नैतिक शिक्षा के जरिये लोगों में आत्मबोध आयेगा तो अवचेतन स्तर से बीच के विभिन्न चरणों से गुजरते हुए समाधि के स्तर तक लोगों की आध्यात्मिक यात्रा को सुगम बनायेगा ।'' इसका तात्पर्य यह है कि दस्तावेज के निर्माता शिक्षा से यह अपेक्षा करते हैं कि उसके माध्यम से उन्हें वह आध्यात्मिक ऊंचाई प्राप्त हो सके जो समाधि की स्थिति तक जाती है । इसी के लिए दस्तावेज के प्रणेताओं को लगता है कि ''धर्म पर तत्काल ध्यान देने की जरूरत है । हालांकि धर्म आवश्यक मूल्यों का एकमात्र स्रोत नहीं है, पर यह निश्चय ही एक प्रमुख स्रोत है ।''

इन अवधारणाओं को देखते हुए प्रोफेसर कृष्ण कुमार का कहना बहुत महत्वपूर्ण लगता है कि 'सत्ता में सबसे अधिक भागेदारी करने वाला दल अपनी वर्चस्ववादी दृष्टि के अनुरूप भारतीय शिक्षा को मोड़ने को आतुर है, खास तौर पर पाठ्यक्रम को । इसीलिए अपनी योजनाओं की शीघ्र क्रियान्विति करना उनका मुख्य लक्ष्य है क्योंकि उसके पास पर्याप्त राजनैतिक क्षमता नहीं है और यह भी अनिश्चित है कि उसका कार्यकाल कब समापन की ओर बढ़ जाये ।' इसी तथ्य की ओर पद्मा एम. सारंगपाणी ने अपने ''द ग्रेट इंडियन ट्रेडिशन'' शीर्षक निबंध में संकेत किया है कि समय के कथित अभाव और अपरिहार्य परिस्थितियों के कारण यह दस्तावेज भारतीय परंपरा के प्रमुख गुण सूत्रबद्धता या समासिकता की ही बलि चढ़ा देता है । इतना ही नहीं उन्हें तो लगता है कि ''विद्यार्थियों की सम स्तरीय और उर्ध्वस्तरीय गतिशीलता को बनाये रखने'' ''ज्ञान के विस्तार और विलोप तथा जीवन के विभिन्न स्तरों में जीवन की बदलती भूमिकाओं एवं मनौवैज्ञानिक अवस्थाओं के संबंध में अधिकाधिक जागरुकता'' जैसी शब्दावलियां मात्र साहित्यिक चतुराइयां हैं जिनका शिक्षा के व्यावहारिक स्तर पर महत्व नहीं है।

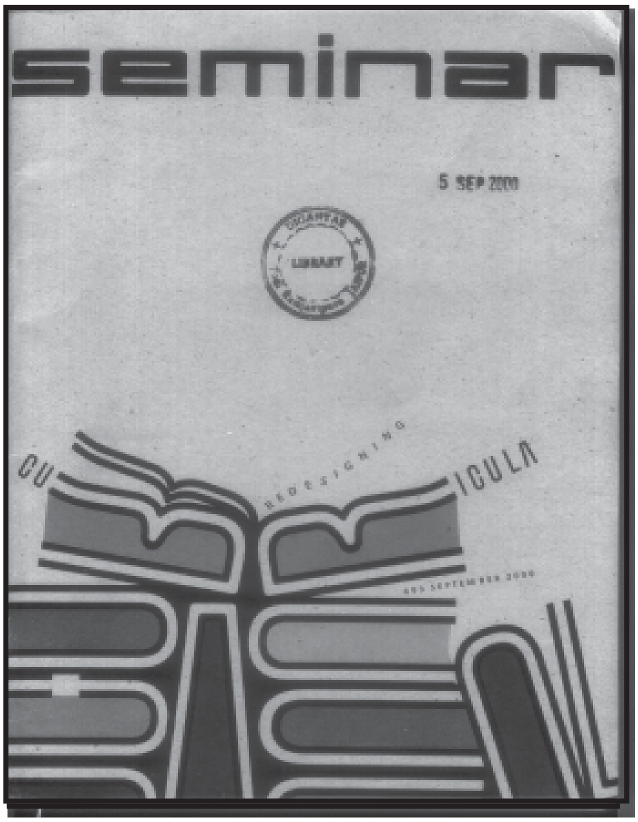


शिक्षा के सरोकारों में यह दस्तावेज घोषणा करता है कि पाठयचर्या तीन स्तंभों - प्रासंगिकता, समानता और उत्कृष्टता पर स्थित होनी चाहिये । किंतु दस्तावेज स्वयं में ही इन स्तंभों को लेकर अन्तर्विरोधों का शिकार होता हुआ दिखाई देता है । इसका कारण यह भी लगता है कि इन तीनों प्रत्ययों के बारे में दस्तावेज निर्माताओं का दृष्टिकोण बहुत संकीर्ण है । जैसे प्रासंगिकता के प्रसंग में हम धर्मनिरपेक्षता के मुद्दे को ले सकते हैं । हमारे संविधान में ही भारत को धर्मनिरपेक्ष राज्य के रूप में विकसित करने की कल्पना की गई है जिसमें सभी धर्मावलम्बियों को अपनी धार्मिक स्वतंत्रता के निर्वहन का अधिकार है । शिक्षा में सर्वधर्म समभाव के विचार को प्रश्रय देने से इस उदात्त लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है । रोहित धनकर ने अपने लेख ''आन कैरीकुलम फ्रेम वर्क'' में सटीक व्याख्या की है कि 'धर्म निरपेक्षता ऐसे विचारों का संपुंजन है जिसमें धर्म और ईश्वर दोनों के लिए कहीं गुंजाइश नहीं है।' पर यह दस्तावेज तो धर्मनिरपेक्षता के उन सभी अर्थों को नकारता है जो संसार के विभिन्न शब्दकोषों में मिलते हैं । दस्तावेज में इस बात पर पूरा बल दिया गया है कि धर्म के द्वारा नई पीढ़ी में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का संचरण किया जा सकता है तथा 'ईश्वर में विश्वास को स्थापित करने वाली शिक्षा ही देश और मानवता की सेवा' करने योग्य नागरिक पैदा कर सकती है । दस्तावेज अनेक स्थलों पर संकेत करता है कि नैतिकता पूरी तरह धर्माश्रित है (रोहित धनकर) किन्तु जिस धर्म की वकालत यह दस्तावेज करता है वह पूरी तरह राष्ट्रवाद और भारतीय संस्कृति के साथ जुड़कर आता है। इसलिए मोहम्मद तालिब अपने ''द ग्रेनाइट रीडिंग ऑफ ए रेनबो'' शीर्षक आलेख में यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या राष्ट्रवाद के गाढ़े घोल में हिन्दुत्व को मिलाने से नये भारत का इन्द्रधनुष बन सकता है ? यही नहीं पाठ्यक्रम में भाषाओं के स्थान पर चर्चा के समय संस्कृत के प्रति अतिरिक्त सम्मोहन इस बात का प्रमाण है कि दस्तावेज कहीं न कहीं ''धार्मिक सरोकारों'' पूजा-पाठ, अनुष्ठानों और त्यौहारों के महत्व को प्रतिपादित करने के प्रति बहुत सजग है। इसलिए कहीं ऐसा तो नहीं कि सब धर्मों के सम्मान की ओट में यह दस्तावेज एक सांप्रदायिकता के लक्ष्य की और बढ़ने की प्रेरणा दे रहा है ।

दस्तावेज में जहां भी अवसर मिला है पूर्वजों के वर्चस्व को स्वीकार कर उसको अतिरिक्त महत्ता प्रदान करने की कोशिश की गई है । मोहम्मद तालिब ने सही दिशा की ओर संकेत करते हुए कहा है, राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा के साथ दिक्कत यह है कि उसके प्रणेता स्कूलों को संचालित करने वाले सरकारी मशीनरी तथा उसके अन्य अनुसंघों - लेखक, अनुवादक, पुस्तक प्रकाशक तथा अन्य संबद्ध घटकों - को एक निर्धारित दिशा में हांकना चाहते हैं । (पृष्ठ 27) उनका यह सुझाव भी गौर करने लायक है कि इस दस्तावेज में संविधान में उल्लेखित जिन कर्तव्यों का हवाला दिया गया है उनमें उन मार्गदर्शी तत्वों को भी शामिल कर

लिया जाना चाहिये जोविभिन्न धार्मिक एवं अल्पसंख्यक समूहों तथा पिछडे वर्गों के हितों की रक्षा करते हैं एवं संकीर्ण कट्टरवादी विचारों पर नियंत्रण करते हैं ।

इसमें संदेह नहीं कि यह दस्तावेज देश में प्राथमिक शिक्षा के प्रचार प्रसार को पूरा महत्व देता है । इस दस्तावेज के प्रणेता निश्चय ही इस लक्ष्य को तय करने के प्रति सजग दिखते हैं कि हर व्यक्ति को उसके विशिष्ट व्यक्तित्व के अनुकूल गति और पद्धति के माध्यम से समुचित स्तर की शिक्षा प्राप्त हो तथा एक संसक्त समाज की निर्मिति के लिए शैक्षिक सुविधाओं की सुलभता सबके लिए समान रूप से हो । निश्चय ही यह एक उदात्त लक्ष्य है किन्तु जैसा कि ए. आर. वासवी इस मंशा पर सवाल उठाती हैं कि इस लक्ष्य को किस प्रकार प्राप्त किया जायेगा, उसके तरीकों का विशेष विवरण इस दस्तावेज में नहीं मिलता। (पृ. 35) दस्तावेज समाज केन्द्रित प्राथमिक शिक्षा पर पूरा बल देता है । लेकिन भारत जैसे बहुलतावादी देश में विभिन्न समाजों की आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा शैक्षिक क्षमतायें भिन्न-भिन्न हैं । वहां एक सी सार्वजनिक शिक्षा का क्या प्रारूप होना चाहिये, इसका स्पष्ट उत्तर इस दस्तावेज के पास नहीं है । इस दृष्टि से 'दी कम्यूनिटी गेप इन प्राइमरी एज्यूकेशन' शीर्षक निबंध में ए. आर. वासवी का यह कहना कि प्रस्तावित पाठ्यचर्या में स्थानीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रयास की दिशा में तथा पाठ्यक्रम में स्थानीय ज्ञान के समावेश के तरीकों का कोई उल्लेख नही है, तर्कसंगत है । इसी तरह शोभा सिन्हा को अपने 'एक्वायरिंग लिटरेसी इन स्कूल्स' नामक आलेख में लगता है कि विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा में साक्षरता के लिए बहुत कम स्थान है । उन्होंने तो पढ़ाई जा रही विभिन्न पुस्तकों (विद्याभारती द्वारा संचालित स्कूलों में ) के पाठों से सटीक उदाहरण देकर यह भी सिद्ध कर दिया है कि पुस्तकों की पाठ्य-सामग्री, पाठ्य सामग्री की गुणवत्ता, पाठ्य - सामग्री की बुनावट साक्षरता के प्रसार में कोई मदद नहीं करती। वासवी ने अनेक उदाहरण दिये हैं, जैसे - एक पाठ्यपुस्तक में शब्दों का चयन उनकी ध्वन्यात्मकता के आधार पर किया गया है, उनके अर्थ के आधार पर नहीं, इसलिए अर्थ की दृष्टि से एक पाठ में लिये गये शब्द परस्पर असम्बद्ध हैं, जैसे - 'सरला इधर आ। बाजार जाकर गाजर का हलवा ला । माता का कहना मान। नमक मत खा । राम अपना समय खराब मत कर । बाजार जाकर बादाम ला ।' (शिक्षा भारती प्रवेशिका, पृष्ठ 13) क्या बच्चे ऐसे पाठों में रुचि ले सकते हैं ? क्या ऐसी असंबद्ध वाक्य प्रस्तुतियां उनके मन में शिक्षा के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर सकती हैं?

इसी से जुड़ा हुआ एक और सवाल है, प्रजातंत्र में सबके लिए समान शिक्षा का । दूसरे शब्दों में समान पाठ्यचर्या का । यह दस्तावेज बार बार 'संसक्त समाज', 'राष्ट्रीय अस्मिता', 'नागरिकों के कर्तव्य' जैसे प्रत्ययों पर बल देता है लेकिन, जैसा कि अरुणा रत्नम अपने 'कॉमन कैरीकुलम फॉर डेमोक्रेसी' शीर्षक आलेख में कहती हैं, यह रूपरेखा उन सुविधाओं की ओर इशारा नहीं करती जो हमें समानता के साथ जीने की कला सिखाने के लिए आवश्यक हैं । (प. 44) पाठ्यचर्या की यह रूपरेखा पृष्ठ संख्या 15 पर यह स्वीकार करती है कि ''संसाधनों की कठिनाई झेल रहे इस देश में, जहां औपचारिक शिक्षा के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध नहीं है, अनौपचारिक शिक्षा केन्द्रों के लिए धन जुटाना कठिन कार्य है लेकिन साथ ही यह ऐसी चुनौती है जिसे स्वीकार करना ही होगा ।''

साथ ही पृष्ठ 26 पर यह कहना, ''शिक्षार्थियों की दक्षताओं और अधिगम के अनुभवों के सापेक्ष सभी स्तरों और सभी विषयों के ज्ञान, समझ और कौशल की संप्राप्ति के आवश्यक न्यूनतम स्तर को सुनिश्चित करने पर बल देना'' । अरुणा रत्नम को लगता है कि इसमें '' शिक्षार्थियों की दक्षताओं और अधिगम के अनुभवों'' पर अधिक बल होने के कारण यह रूपरेखा अपने मूल लक्ष्य से इतर ध्यान बंटाने का प्रयास करती है । इस दस्तावेज में ''बच्चा: अपने ज्ञान के निर्माता के रूप में'' स्वीकार किया गया है तथा ''संज्ञान और संवेग के बीच संबंध की स्वीकृति'' पर चर्चा की गई है । बच्चे पर ''पाठ्यचर्या के बोझ को कम'' करने के प्रति चिंता भी व्यक्त की गई है । किन्तु अरुणा रत्नम अपने आलेख में कहती हैं कि पूरे दस्तावेज में शिक्षण (सीखने) को एक आल्हादकारी क्रिया बनाने के उपायों की कोई तजबीज नहीं की गई । उन्हें यह देखकर भी आश्चर्य होता है कि बच्चे के संदर्भ में ''संज्ञान और संवेग के बीच संबंध की चर्चा पृष्ठ 18 के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी नहीं की गई है, यहां तक की प्राथमिक शिक्षा के प्रसंग में या विद्यालयी शिक्षा के अन्य स्तरों के संदर्भ में भी नहीं । ''राष्ट्रीय अस्मिता के सशक्तिकरण तथा सांस्कृतिक विरासत के संरक्षण'' पर बल देने वाला यह दस्तावेज अनेक बार इस तथ्य का उल्लेख तो करता है कि विश्व सभ्यता के विकास में भारत ने बहुत योगदान दिया है किन्तु यह कहीं स्वीकार नहीं करता कि भारत ने भी अपने सांस्कृतिक विकास में अन्य संस्कृतियों से कुछ ग्रहण किया है । अरुणा रत्नम चुटकी लेते हुए कहती हैं कि ''छूआ छूत तथा जाति व्यवस्था तो निश्चय ही भारत की देन हैं पर यह दस्तावेज समाज विज्ञान के प्रसंग में भी इनका जिक्र नहीं करता ।'' इसका सीधा-सा अर्थ यही है कि हम अपने दूषणों के प्रति आलोचनात्मक दृष्टि अपनाने से कतराते हैं ।

पदमा एम. सारंगपाणि ने अपने आलेख ''द ग्रेट इंडियन ट्रेडिशन'' में एक गंभीर आशंका व्यक्त की है कि इस पाठ्यचर्या के रूपरेखा के ''विभिन्न अध्याय अलग-अलग लोगों के द्वारा लिखे गये लगते हैं, इसलिए संपादक इस तथ्य को नहीं पकड़ पाये कि अध्याय एक तथा दो परस्पर विरोधी हैं ।'' (पृ. 16) परिणाम यह हुआ है कि जो लक्ष्य प्रणेताओं ने निर्धारित किये हैं उन्हें प्राप्त करने की विधियों के बारे में यह दस्तावेज कोई व्यवहारिक एवं स्पष्ट रूपरेखा प्रस्तुत नहीं कर पाता । जैसे पृष्ठ 30 पर दस्तावेज में न्यूनतम स्तर की प्राप्ति के संदर्भ में कहा गया है कि ''उद्देश्यों की पहचान करते समय यह आवश्यक है कि पाठ्यचर्या के सामान्य उद्देश्यों से आगे उसमें विशिष्टता के विभिन्न पक्षों को उजागर किया जाए । इसके लिए शिक्षा के प्रत्येक स्तर पर विशिष्ट उद्देश्य होने चाहियें। प्रत्येक विषय के विशिष्ट उद्देश्यों में पाठ्यचर्या को पढ़ाने के बाद विद्यार्थी पर पडने वाले प्रत्याशित प्रभावों का स्पष्ट उल्लेख किया जाना चाहिये । अत: पाठ्यचर्या निर्धारकों को प्रारंभ में ही यह सुनिश्चित करना होगा कि पाठ्यचर्या के संपूर्ण लक्ष्य विद्यालयी शिक्षा के संपूर्ण उद्देश्यों को पूरा करेंगे ।'' किन्तु यह सुनश्चित किस प्रकार होगा, इस बारे में यह पाठ्यचर्या मौन है ।

यह दस्तावेज ''चरित्र'' ''नैतिक आदर्श'' ''जीवन मूल्य'' जैसे उद्देश्यों की प्राप्ति पर बहुत बल देता है तथा इन्हें भारतीय संस्कृति के प्राचीन गौरव के साथ रखकर भारतीय संस्कृति की महत्ता को रेखांकित करता है किन्तु पाठयचर्या के ''विकल्प मात्र इस सवाल तक ही सीमित नहीं है कि क्या पढ़ाया जाना चाहिये प्रत्युत उसे कैसे पढ़ाया जाये, किन स्थितियों में पढ़ाया जाये तथा उसे पढ़ाते वक्त किन साधनों का उपयोग किया जाये ।'' (रोहित धनकर, ऑन कैरीकुलम फ्रेम वर्क, पृष्ठ 19) इन बातों पर विचार करना भी जरूरी है और इस पाठ्यचर्या की सबसे बड़ी सीमा है कि यह शिक्षा के पूरे परिदृश्य को नहीं समेटता । रोहित धनकर का यह कथन बहुत समीचीन है कि पाठयचर्या निर्माण में ज्ञान, मूल्य और कुशलताओं से संबद्ध विभिन्न उपादानों की सूची बनाना ही पर्याप्त नहीं है । सूची चाहे कितनी ही विशाल और उदात्त क्यों न हो, वह बिना व्यावहारिक क्रियान्विति योजनाओं के भारत जैसे बहुलतावादी समाज की आकांक्षाओं को पूरा नहीं कर सकती। कहने को तो यह दस्तावेज ''सुविधाहीन वर्गों के बच्चों की शिक्षा'' को अपने बुनियादी उद्देश्यों में रखता है पर जब विभिन्न स्तरों पर दी जाने वाली शिक्षा की योजना सामने आती है तो विकलांग, शारीरिक रूप से अक्षम, मानसिक रूप से पिछडे, दलित समाजों के बच्चों, अल्पसंख्यकों तथा विभिन्न धर्मावलम्बियों के बच्चों के लिए कोई ठोस कार्य योजना पाठ्यचर्या प्रणेताओं के पास दिखाई नहीं देती । इसलिए भारतीय जीवन की विभिन्नताओं की आवश्यकताओं की पूर्ति यह पाठयचर्या योजना कर पायेगी, इसमें संदेह है । धर्मनिरपेक्षता की समस्या पर हम पहले विचार कर चुके हैं । ऐसा लगता है कि इस पाठ्यचर्या के निर्माताओं के मस्तिष्क में भारत का केवल मध्य और उच्च वर्ग है इस रूपरेखा के पास इसलिए गरीब बच्चों के लिए सुनहरे भविष्य के कोई सपने नहीं है ।

प्रस्तुत पाठ्यचर्या रूपरेखा भारतीय सूत्र ''वसुधैव कुटुम्बकम' की महत्ता को प्रतिपादित करते हुए भूमंडलीकरण के प्रभाव के प्रति प्रतिक्रिया को योजना के केन्द्र में रखती है और ''मिलकर रहना सीखने'' के सिद्धांत को पूरे बल से रेखांकित करती है । किन्तु भूमण्डलीयकरण और उदारीकरण के खतरों के प्रति भी यह दस्तावेज न कहीं सावधान करता है, न उन खतरों से बचने के तरीके सुझाता है । जैसे भू मंडलीकरण का सबसे बड़ा खतरा तो यही है कि वहां ''धन ही सबसे बड़ा और एकमात्र मूल्य'' है । (रोहित धनकर, पृष्ठ 23) तो हमारे उदात्त मूल्यों का क्या होगा और हमारी शिक्षा पाठ्यचर्या इस क्रूर यथार्थ का मुकाबला कैसे करेगी । इस पाठ्यचर्या रूपरेखा निर्माताओं की सबसे बड़ी विडम्बना यह है कि वे अपने आपको पूरी तरह आधुनिक सिद्ध करने को व्याकुल हैं, इसलिए वे '' सूचना और संचार प्रौद्यौगिकीयों की चुनौतियां का सामना'' करने की बात करते हैं जबकि उनके सोच पर भारत का गौरवमय अतीत हावी रहता है । बिना धर्म और ईश्वर के वे किसी प्रकार की पाठ्यचर्या की कल्पना नहीं कर सकते । उनकी यह दुविधा इस दस्तावेज को स्वत: ही अविश्वसनीय बना देती है । इसमें संदेह नहीं कि जहां तक शिक्षा के लक्ष्यों के निर्धारण का प्रश्न है, कुछ विचलनों को छोडकर यह दस्तावेज काफी मोहक लगता है । किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से इस दस्तावेज में ऐसी कोई योजना परिलक्षित नहीं होती जो इस महादेश की शिक्षा को नयी और सही दिशा दे सके ।

'सेमिनार' पत्रिका यह अंक अपने विभिन्न आलेखों में इस दस्तावेज की वस्तुनिष्ठ समीक्षा करता है तथा अच्छा तो यह रहे कि परिचर्चा दस्तावेज के साथ 'सेमीनार' का यह अंक भी नत्थी कर दिया जाये ताकि चर्चा करने वालों को दस्तावेज की दरारों की असलियत का पता चल सके । निश्चय ही आधार वक्तव्य प्रो. कृष्ण कुमार का यह कथन अवश्य पढ़ा जाना चाहिये - ''भले ही बच्चों के प्रति निर्ममता बरतने वाले इस राष्ट्रीय प्रस्ताव की पीड़ा से हम कितने ही आहत हों, इस दस्तावेज की उपस्थिति पर गंभीरतापूर्वक विचार करने के अतिरिक्त हमारे पास कोई विकल्प नहीं है ।'' (पृ. 13) ◆